कृष्णधर्मा मैं

विश्वकवि रवीन्द्र
की १२५वीं जयन्ती
के अवसर पर
प्रकाशित

कृष्णधर्मा में

डॉ० प्रभा खेतान

आवरण

मदन सूदन

प्रकाशक
स्वर समवेत
६, तनसुख लेन
कलकत्ता ७००००७

मूल्य
बीस रुपये

मुद्रक **भागचन्द सुराना**
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
२०५, रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता ७००००७

KRISHNADHARMA MEIN
A Long Poem By
Dr PRABHA KHAITAN

कृष्णधर्मा मैं

प्रभा खेतान
की
लम्बी कविता

कृष्णधर्मा मैं

●

कृष्ण चेतना की यह कविता क्यों लिखी गई और कैसे लिखी गई। मेरे पास ऐसा कोई स्पष्ट ख्याल नहीं था और न कोई दार्शनिक अवधारणा मेरे सामने थी। मुझे पता नहीं यह कविता कहाँ से आई और कैसे आई। बस इतना भर समझ रही हूँ कि इस कविता का मैंने चुनाव नहीं किया बल्कि यों कहिए कि इस कविता ने मुझको खोज निकाला। यह कविता खुद ब खुद टुकड़े टुकड़े में कलम के सहारे कागज़ पर उतरती चली गई। किसी महती प्रेरणा के रूप में नहीं, यह कोई अमूर्त धारणा भी नहीं थी। यह तो अपने समूचे अस्तित्व के साथ सफेद कागज़ पर उभरती हुई एक बिल्कुल ठोस कविता थी—जहाँ कविता अपने क्षेत्र में व्यक्ति और विराट् चेतना के दोनों आयामों को लिए हुए एक ऐतिहासिक साझेदारी का एलान कर रही थी। कौन है विराट्, मैं नहीं जानती, कौन सा स्वर है कृष्ण-चेतना का, यह भी नहीं। हाँ, इसके सामने मैं अपने समूचे निरावरण अस्तित्व के साथ उपस्थित जरूर थी। कविता मुझे छूती है, मुझमें आकार ग्रहण करती है।

अपनी इस काव्यानुभूति के लिये मेरे पास नाम नही था, फिर अचानक कृष्ण का लीलामय स्वरूप याद आया और तब लगा वह बडा चकित और विस्मित हो अपनी इस लीला को देख तो रहा होगा ! क्या केवल मुझको उसकी ज़रूरत है, उसको मेरी नही ? अपनी इस लीला के माध्यम से ही तो वह कृष्ण हो पाता है। वह भी उतना ही मानवीय है जितने हम, उसका भी अस्तित्व अर्थमय होता है, मानव जीवन जीने की प्रक्रिया के दौरान। जैसे हम मानव हैं, हमें सबकी ज़रूरत है। वैसे ही कृष्ण के लिये हम सब भी उसकी एक मानवीय ज़रूरत नही ।

मेरी इस पूरी कविता में कृष्ण मौजूद हैं उनकी मौजूदगी उस काध की मौजूदगी है जो कभी दिखती है कभी नही दिखती, मगर लापता कभी नहा होती। हाँ, यह भी सच है कि मेरे पास ऐसा कोई विज़न नहा, बस कहा कुछ आत्मा की गहराई में ज़रूर घटा कि अपनी वैयक्तिक अनुभरा का अतिक्रमण करते हुए मैंने खुद यह राह चुनी, उस आग को कुरेदा, जो इच्छा आकांक्षाओं और महत्वाकांक्षाओं की राख के नीचे एक मानवीय आग बन कर सुलग रही थी। अपने कल्पना के उन टूटे डैनों को सम्हाला जो उडने की तैयारी में लगना चाहते थे और मैंने चन्द लाइनें लिखी, लिख कर छोड दी। कविता की सम्भावना कवि बन्धुओं की गिद्ध दृष्टि से कहाँ छिपती है। भाई ध्रुवदेव ने देखा, कहा—प्रभाजी, इसको लिखिये। और अचानक मुझे लगा मानो गाँठे खुलने लगी। लिखने में एक गहरी तन्मयता का बोध कि लगा छायाएँ रूपहली आकृति में चमक रही हैं। वह मूर्त्त से अमूर्त्त की यात्रा थी तो कभी बिल्कुल अमूर्त्त से ठोस मेरे वैयक्तिक अनुभव क्षेत्र की बातें—

तुम कौन कृष्ण
और मैं कौन
तुम्हारी विराट चेतना
और मेरी व्यक्ति चेतना
इतिहास तो हमारे साझे का क्षेत्र है

खत्म होता हुआ अन्धेरा है
और म

विराट व उग खालीपन का पीती हुइ
बदलती जो जा रही
अपनी ही तरह
हजारो लाखों अगणित सितारा म
जो चमकते है, कृष्ण के लिये

तृप्त हुइ म, तृप्त हुइ मरी चतना ।

पूरी रचना क दौरान म आज की चुनौतिया के बीच अपने को कृष्ण की साझीदार पाती रही हूँ—हास उल्लास के क्षणा से लेकर महाभारत व महासहार तक क प्रकरणा के बीच, कलि-कुजा से लेकर प्रभास-तीर्थ तक की रचना-यात्रा क बीच । शायद साझदारी के इस एहसास ने ही मुझ स्थूल कथा-सूत्रा स बचाकर चेतना क स्तर पर कृष्ण से जोडा है, कृष्णधमा बनाया है ।

प्रभा खेतान

कृष्णधर्मा
मैं



मेज़ पर पड़ती
रोशनी के घेरे में खिलता है
एक कमल   वह तुम होते हो

और कुछ नहीं होता
मेरे कमरे में एक सन्नाट उदासी के सिवा
चारों ओर तूफान, चट्टानों की टूटन
रेत का निर्झराव
उदास चेहरे
फीके मुखौटे
इन सभी से अलग
पता नहीं
कौन तुम
मेरे सपनों को तितलियों का रंगीन पंख देते हुए !
काल के इन्द्रधनुषी रंग बुनते हुए !

पहाड़ और जंगल
बहती हुई नदी ये सब होते हैं
कमरे से बाहर
फिर भी पता नहीं
कौन तुम जादुई करिश्मों से
मेरे भीतर धड़कते हुए !
जीवन की यान्त्रिकता को संगीत में बदलते हुए
स्मृतियों को हवा में उछालते हुए
पिरोते हुए भूत, भविष्य और वर्तमान
संभालते हुए आखिरी दम तक मुझको
मेरी कविता में
कौन सा नाम दूं तुमको
ओ अनाम !

पेड़ की जड़ों के
अतल अँधेरे में
जहाँ पहुँच नहीं पाती
सूर्य की किरणें
जानते हो वहाँ क्या है !
जानते हो कौन है वह !

जिसकी आँखों में
जाग कर उठ बैठता
सोया हुआ भगवान
जब
कानों में
बजने लगतीं
मन्दिर की घंटियाँ।

चेतना की तहों में
मील के पत्थरों में
टकराते हुए इतिहास में
उलझ जाती मैं
ठीक वैसे ही, जैसे
माटी के रंगों में, रेखाओं और आकृतियों में
उलझती यह पृथ्वी

मैं चल पड़ी हूँ एक बार फिर
पानी की खोज में
दूर दूर तक
समुद्र को कैद करने शरीर की सीमा में
पहाड़ों के कगारों पर
कदम रखती हुई वह पथिक हूँ मैं
जो हो जाना चाहता
खुद अपना रास्ता

मेरी आँखों के सम्मुख
आन्दोलनों की जय पताकाओं के समानान्तर
उड़ान पर निकली चिड़िया
पहुँचना चाहती
बादलों के पार

मुझे याद आ रही
एक छोटी लड़की

मुझे बहुत याद आ रही है इस समय
एक छोटी लडकी
जो मेरी उँगलिया को पकडे
भय से ठिठक गयी थी पहली ही सीढी पर
रखने लगी थी मेरी ओर असहाय
भर आया था
मेरा हृदय मने समझाया था उसे
इन्द्रधनुषी रगो का महत्व
बताया था उडने का सुख
और तब
सीढियाँ चढने लगी थी वह मेरे साथ
चढती चली गइ और आज
इन्द्रधनुषी देहरी पर ठिठकी
कभी देख रही मेरी ओर
कभी नाप रही आकाश

पता नही क्यो मेरी बाँहो का घेरा
बनाना चाहता
उसे
फिर वही छोटी लडकी
मगर
एक नइ उछाल लेने लगती हैं
मेरी इच्छाएँ

म कुछ और ही होना चाहती हूँ
एक जगल, एक घास का मैदान
एक गली—उस गली का आखिरी मकान,
या फिर गली के अन्त में
चौडी सडक पर
बिछा हुआ बाज़ार
या फिर
शहर की तेज़ रफ्तार मे

दौड़ने वाली मिनी बस
इस कोने से उस कोने तक
जाती हुई
परिचितों अपरिचितों से बातें करती हुई
हो जाना चाहती हूँ मैं
चमकती हुइ धूप, उजली हँसी

पता नही फिर क्या
लौट लौट आता
इसी इसी घर में
और सिमट आता
खालीपन के साथ
मेरा आकाश
दम तोड़ देती बाहर की फैली दुनिया
हर जीवित अनुभव
गहरा कर जाता मेरा अकेलापन
कहाँ होती हूँ उस समय ?

नींद में चौंकती हुइ
करवट बदलती हुइ
पता नहीं
भटकती होती हूँ किन किन वनों में
किस सागर के तट पर ?

मन में
उभरती है
एक माया कथा
टटोलती हूँ
भटकावा के पथ पर
नारायण की नरता का रहस्य

सोचती हूँ
कहाँ से कहाँ तक के लिये

नियोजित तुम
किन नये झिलमिलों से
भरना चाहते रह
धरती से ऊपर
आदमी का देवत्व ।

जानती हूँ
अकेले तुम कहा नही पहुँचोगे
कृष्ण !
लेते रहो
युगा-युगा तक अवतार
अकेले तुम बना नही सकते
आदमी को देवता
बार-बार बन कर
एक अदना आदमी
तुम्हे ही भोगना पड़ता
आदमी होने का दर्द

स्वीकारती हूँ
आज अपने होने का सच
अँधेरे जगत में जैसी भी हूँ
धूप की चाह के साथ हूँ, प्रभु !
निरावरण है यह अस्तित्व
मुखौटा के व्यामोह से मुक्त
निरन्तर घेरता हुआ एक चक्रव्यूह
मेरे जीवन का सच

लगातार छटपटाती रही
अभिमन्यु की तरह
बिंधती हुई
इर्ष्या द्वेष के बाणा से
हराया व्यवसायी शत्रुओं के घावा प्रतिघाता से
मारी जाती रही युद्धरत ।

देव !
हार-जीत से परे भी बची रह जाती
चेतना की एक लचीली राह

विसर्जित होते ही अह
मालूम पड़ा
म भी हूँ किसी कृष्ण का अश
जान पाई मै
जीवन के महाभारत का सच होता है
एक युद्धरत अभिमन्यु !

देव !
बार बार पहुँची मै
तुम्हारे पास पूजा, अर्घ्य समर्पण के साथ

लौटती रही

असमर्पिता
बार बार पाती रही
अपनी ही तरह एक नश्वर आदमी को अपने पास

मर चुके
सारे भाव
बासी पड चुकी सारी आसक्तियाँ
ताजी है
पहले से आखिरी शब्द तक
एक लम्बी उदासी से भरी मेरी कविता

तमाम चीजों की भीड के अँधेरे को
चीरती चेतना की आँखो में
धीरे-धीरे केन्द्रित होती है रोशनी
देवता से हटकर
मूर्त देहधारी आदमी के ऊपर
नारायण ने
बार बार पहचानी अपनी भूमिका
नर के माध्यम से
लगातार सघर्षरत इतिहास के भीतर

तुम जानते हो कृष्ण
न कभी रुका है
इतिहास का सघर्ष
न खत्म हुई कभी
नारायण की भूमिका

जब जारी था भयकर युद्ध
तुम भी काँप गये, देव
दानवों के आतक से
कौन था
एक अदना आदमी के सिवा

तुम्हें समर्पित करने के लिए
बचा पाने को अमृत-कलश ?
कौन था
एक अदना आदमी के सिवा
जो झेल सकता मथन का दाह ?

प्रभु !
इतिहास को
नित्य नया अर्थ देती हमारी ही क्रियायें

सोचती हूँ मैं
कितने मोहक होते कालिक-अनुभव
जिनके स्वाद के लिए
मूर्त होती रही आदमी के शरीर में
बार-बार तुम्हारी सत्ता ?
कितनी आकर्षक होती हैं
दुनिया के भाग की चाह

काश !
कभी तुम स्वय बता सकते
ओ निरन्तर भोक्ता !
सृजन के नित्य नये स्वादों का अर्थ ?

देव !
सच है
तुम कभी बहे नहीं मेरी तरह
अपनी ही प्रकृति की गतिमयता के प्रवाह में
काल की अटूट शृंखला का नियमन करते रहे तुम

ओ नारायण !
सचमुच अनुमत्ता हो तुम !
सब कुछ के भोक्ता हो तुम
मेरे शरीर में हर पल रूपायित होते रहते
ओ महेश्वर !
क्या करूँ अपने इस अहंकार का ?
क्या करूँ अपनी इस आत्मनिष्ठा का ?
कहाँ विसर्जित कर दूँ
तुम्हारी रची इस व्यवस्था में
बार-बार सिर उठाते

पहचान बताने के लिये
आकुल अह को।

बार-बार अकुलाता रहा बताने को मुझमें बसा आदमी
कि
कृष्ण की एक झलक देखी है मैंने भी
उसके होने का स्वाद चखा है मैंने भी अपने अस्तित्व में

कालिक विकास क दौरान
तुम्हारी ही गरिमा से मडित
एक देह थी मैं तब भी

आत्म हूँ म अब भी
अरे ओ परमात्मन्
भोगती रही हूँ म
सोते-जागते
हँसते-रोते
अस्तित्व क हर क्षण को

भागती रहूँगी
आखिरी साँस तक
तुम्हारी बनाइ प्रकृति को अनुक्षण

मत कहो
मुझ सिर्फ माया
ओ नियता।
मत कहो
म केवल छाया हूँ
किसी भी क्षण मिट जाने को विवश

यह मेरा आत्म है
एकल आत्म
खोजता गढता हुआ

इतिहास की घटनाओं में
अपनी पहचान
म स्वय हूँ
अपना आन्तर
अपने एकल को पहचानती हूँ म
चीरती हुई विशिष्टताओं का घटाटोप
दिक्काल के अनन्त फैलाव में
पाती हूँ आदमी की सज्ञा
दूसर एकलों से जुड कर

अर कृष्ण !
परम पुरुष !
महेश्वर !
तुम ही तो रूपायित इस शरीर में
पर क्या कम मैं अपने इस अहकार का ?
अपनी ग्म आत्मनिष्ठा का
जा अहश्रोत है
मेर आन्तर में क्रियाओं प्रक्रियाओं को ?

चारा ओर फैला
ब़ाहुल्य का अम्बार
राज्य
नीति
समाज
व्यवस्था
भाषा में निहित अर्थ
व्याकरण का तर्क

मब कुछ सबोधित
मेरे एकल का
हाँ

स्वेच्छा से ओढी है
मैंने
आदमी होने की सर्वोच्च भूमिः

रात रात भर जागकर
खोजती रही हूँ म
आकाश में उगे
तारा को

करती रही हूँ विश्लेषण
उनके अस्तित्व का
ओर पहचाना है
किसी मीठी सुवह
अपनी शान्त समाधि मं
उनके होने का अर्थ

महसूसा है कि
मेरा रोम-रोम
तारा की चमकती आँख है
मने उन तारो की टिमटिमाहट को
अपने हृदय की धडकनों में महसूसा है

अकाट्य
अखण्ड
अविभाज्य
अनुभवों से मैंने जाना है
इनकी गति में अपना अस्तित्व
भोगा है
अपने किए का फल जीवन में ।

कृष्ण !
तुमसे अलग
अपने समूचे अलगाव में
उठ खड़ी होती हुई मैं
करती हूँ नियंत्रण अणुओं की गति का
तथ्यों पर आधारित
पूर्ण रूप से सम्भावित
पर कौन हूँ मैं?

क्या केवल स्मृति पुंज?
अनुभवों का सकलन?
या एक खाली फलक
जिस पर
तूलियाँ फिराया करता
महाकाल?

गहरे
और गहरे
उतरती हुई मैं

अरे यह तलछट ?
यह आधार !
डूबते-डूबते पैरों से टकराती
यह कौन-सी जमीन ?
क्या यह तुम्हारी सरहद नहीं
मेरे कृष्ण ?

नहीं
नया नहीं मेरा यह अनुभव
एकल नहीं यह

सदियाँ बीत गईं
तरंगित होती रही ध्वनि
वह ब्रह्मास्मि
स्पन्दित होती रही
मेरी शिराओं में

काँप जाता मेरा मन
ठहर जाती जीवन गति साँसों की ऊष्मा
जब
अचानक निगलने लगता
जबड़े फैलाये महाकाल
मेरा व्यक्तित्व
मेरी स्वतन्त्रता

देव !
यह कैसा पराकाष्ठावाद
तुम्हारा ?

यह कैसी

परम होने की वासना
मुझे निगल जाना चाहती हुइ।
बना देना चाहती मुझ सिर्फ एक छाया।
घोषित कर देना चाहती
मेरे समूचे इतिहास को केवल एक भ्रम
और
मेरे हर साहस को देती एक ऐसी दिशा
जहाँ निर्मित होता जाए लगातार
भ्रमों के ऊपर भ्रमों का ढूह
कैसे मान लूँ मै
सिर्फ इतना ही प्रयोजन
अपने छोटे से जीवन का।

क्या सचमुच कुछ और नहीं।

कैसे झुठला पाऊँ मैं
बार-बार कचोटते स्मृति-सदर्भों को
जिनमे मिलती रही
तमाम प्रतिकूलताओं से जूझ पाने की शक्ति
खुलती रही जिनसे
विरक्तियो के जगल से गुज़र कर
सृजनधर्मी आसक्तियो की राह

कौंधती है
स्मृति पट पर देव।
बेशुबाँ
उलटी हुइ कचुकी
कहती अपनी यत्रणा
सूखे सरकण्डो सी
भक्ति
लटक रही
बूढे बरगद से

सो गई हैं
गोपियाँ

घिसे हुए
फीके
बेरंग
मुखौटे ओढ़
उलझे धागों को हाथों में लिए

चकित देखता मायावी ईश्वर

अरे यह क्या ?
यह तो लीला नहीं
मौत से भी अधिक सुरक्षित
एक खण्डित मिथक !

कृष्ण !
तुम देख रहे अपलक
अपने शिशु हाथों को
सोचते
कैसे लूँ बाँसुरी ?

हवा में
कैसा होगा
"सम्भवामि गान"
अगली शताब्दी का
प्रथम शंखनाद !

भीतर तक हिल जाती हूँ मैं
जब याद आता है
एक बिसरा एहसास
कभी मीठा
कभी कसैला

सोचती हूँ उतरती हुई
स्मृति गर्भ में
खोजती हूँ
अपने अस्तित्व को

टूट गया कुआँरापन
वर्षों पहले शादी की पहली रात
पर आज भी कुँआरी है आत्मा
प्रतीक्षारत
हर नए अनुभव के लिए

परखती रही हर अनुभव
चुकाती रही
कीमत
और होकर रह गई वस्तु

पाने के बाद
आकर्षण समाप्त
एक ही शरीर
कभी रुक्मिणी
कभी राधा

पता नहीं
कितनी बढ़ेगी भीड़
कितने रूप धरेगा कृष्ण
सिरजे जाएँगे और कितने ब्रह्माण्ड !

बहुत ऊँच उठाकर
तट पर पटक देता
भावनाओं का ज्वार
कितनी आकांक्षाओं से पुष्ट हुआ था
तुम्हारे पौरुष का दर्प !

सोचती हूँ आज
शायद तुमने भी तो यही सोचा था, कृष्ण
भर कर स्वर में द्रौपदी की आर्तता
मैं भी पुकारूँगी तुम्हें
शर्म स छिपा लूँगी मुँह
पौरूषहीन आततायियो के सामने

नही किया मने ऐसा कुछ भी
झलती रही क्रमश निरावरण होने की यातना
चबाती रही दु ख और अपमान का दर्द
बनती रही वासनाओं के खूनी स्वाद की खुराक

नहीं अनुभव कर सकी, कृष्ण !
यातनाआ के क्रूर सिलसिले के खिलाफ कहीं भी
न करती हुई तुम्हारे नाम का उपयोग
जीवित हू म
अपने आँसुआ न साथ

ग्नताओं क बीच

ो रही हूँ मैं—एक नया क्रम

छ करती हूँ
छ नहीं करती
नह उठकर ऑफिम
ाम
की हुई चादर
त
फ अकली नीद
ा तक
र सुबह न हो

और बारिश
: चलते लोग

मौन सड़क
एक नियमित प्रक्रिया बन गई है
पूरी ज़िन्दगी

उभरती
एक समानान्तर आवाज
मुमकिन है
गूज हो बाहर की

मुमकिन है
आह्वान हो भीतर का
शून्य से अनन्त तक जीवित मै
एक ही क्षण में
पूर्ण से निकल कर
पूर्ण होकर

मेरा अपना है
इतिहास का यह क्षण
मेरा अपना है
अपनी पूरी सरचना में
विश्लेषण से परे तक जटिल
कृष्णो के सदर्भों से अलग
कृष्ण भक्तो की परम्परा से मुक्त

अपनी पहुँच पर बैठ कर
गिनेगा मत
आँकेगा फासले की दूरी
सोचेगा
कृष्ण होने तक के सारे सदर्भों पर
और समझेगा तब
जब तक थे फासले
तभी तक था वह आदमी

खोये हुए संगीत की खोज में
नहीं भटकता है सिर्फ पाखी

खोजता है मेरा भी आत्म अपना संगीत

संघात-दर-संघात
फैलता जाता
मेरे सोच का परिदृश्य

आँखों से ओझल होने के बावजूद
टूटन की चुनौतियों के बीच
नहीं खत्म हो गया
किसी सृजन सम्भावना का आधार

जानती हूँ कृष्ण।
बहुत कुछ पीछे छोड़ कर पहुँची हूँ यहाँ

कहती रही जिसे अपना घर
आज वह भी नहीं है मेरे पास

मेरी हथेलियों पर आकर
अभी-अभी बैठी है तितली
भिन गई है उसके पंखों में पुष्प गंध

टूट जाने के खिलाफ
जाग्रत होता है आत्म
पूछती है चेतना
जीवन की सम्मोहक स्फूर्ति को
संबोधित करती हुई
भीतर के आदमी को

पिघल रही है सफेद धुन्ध
मेरे आस पास
रोशनी की गमाहट से
जारी है
महाकाल की परिक्रमा
घातों प्रतिघातों के बीच
गोया
बढ़ रहा है
मेरे वक्त का आदमी
तोड़ता हुआ बासी सपनों का मकड़जाल

चाहे सिसकूँ
चाहे चिल्ला पड़ूँ   जानती हूँ
नहीं सुनेगा कोई
रुक कर पल दो पल
मेरे आत्म का आह्वान

मेरे मन की पर्तों के भीतर

सुन रहे हो कृष्ण
अपनी घोषणा का अर्थ !

और चाहे कुछ होऊँ न होऊँ मैं
अवश्य हूँ
इतिहास की सृजन संभावना

यही हो कर तो
अवतरित होते रहे हो तुम भी
बार बार
एक नए शरीर में
जारी रही है तुमसे इतिहास की प्रक्रिया

झेलते हुए हर बार
एक नयी अपूर्णता की चुनौती
खोजते रहे हो तुम नई पूर्णता

इतिहास तो हमारे साझे का जगत है कृष्ण
मैं तुमसे अलग कहाँ !
जब भी खोजती हूँ
अपने होने का अर्थ
बार-बार उमड़ता है
तुम्हारे प्रति पूजा का भाव

जितना ही चखती रही
तुम्हारी सृष्टि का स्वाद
बढ़ती रही अतृप्ति
शायद समझ नहीं पाऊँगी
किसी भी सिलसिले के अन्त में
तुम्हारी अनन्तता का खेल

एक शाश्वत मोहपाश में जकड़ी
चलती चली गई मैं

नदी के संग
समुद्र के मुहाने तक
खेल-खेल में
हो जाता रहा कैद
समुद्र का नमक मेरे शरीर में

दौड़ता रहा है
मेरी शिराओं में कभी आदिम-जंगल का एहसास
कभी कदम्ब-कुंज का मादक-स्पर्श

रमती हुई तुम्हारे संग
कृष्ण-वर्णा हो गई यमुना
उसी धूप, हवा और पानी से तो निर्मित मैं भी

किसकी अस्मिता है देव
संजोती हुई घास का भीगापन
समाती हुई मेरी देह में ?

दूर आकाश में
मेरे लिए भी तो टूटा था एक तारा
अब भी तो वह नहीं पहुँचा पृथ्वी पर ?

कैसे अनदेखा कर सके तुम
इतना बड़ा हादसा ?
तुम्हारी स्मृतियों के रस में
होती हुई सराबोर चाहती हूँ उड़ना
फागुनी रंग के साथ तमाम दिशाओं में

शामिल होने दो देव ?
मेरी दृष्टि को
सूने आकाश में
हंसों की कतार के साथ उड़ने दो
मेरे होठों के वृत्त में

हल्का करना चाहती हूँ
अपने शरीर को
बादलो की तरह उड़ने के लिए
तैरना चाहती हूँ
छूट कर तुम्हारी उँगलियो की मायावी पकड़ से

अथाह नीलिमा में

दृश्यो के क्रम में
एक नया दृश्य उभरता है
अमलतास के पत्तो में
सूर्य एक नया रग भरता है

कदम्ब-कुज की छाया में
सहला रही मुझको
हरित श्यामवर्णा हवाएँ
महसूसती हुई तुम्हारी हथेलियो की आदिम छुअन
मोर-पखी हो जाना चाहती हूँ मै

महसूस करती हूँ
सीपी के भीतर समाया अँधेरा जगत
जानती हूँ
मेरे कदमो को वहन करना है
तीन पगो मे ससार को नाप लेने का दायित्व

लाँघती हुई जब बढती हूँ मै
मृतको की छाया ढोती दीवारें
देखती हूँ अचानक
इतिहास के पन्नो पर उग आया कल्पवृक्ष
गिरते जा रहे हैं
टपाटप
सोने के फल
चाँदी के पत्ते
कौस्तुभमणि के बीज

सोचती हूँ
कैसे समझा पाऊँ तुम्हें
अपने जीने की त्रासदी
काश !
कभी तोड़ पाते तुम भी ओ योगेश्वर !
अपनी स्थितिप्रज्ञता का दर्प ?

जानती हूँ कृष्ण
कभी खत्म नहा होगा महाभारत
नहीं होगी
युद्ध में अन्तिम विजय किमी की

नहीं जीते पाण्डव
गोल घूमती पृथ्वी पर
वने रहे अपना ही प्रस्थान बिन्दु !

नहा जानते हो लीलाधर ?
कैसे सारी सृष्टि की परिक्रमा करक
खडी हुई हूँ म
तुम्हारी अनन्त सूर्य रश्मियो क सामने
अनन्तधमा होने क लिये

बहुत दिन बीते । युग बीते
मेरी कविता आज भी रुकी है वहा
आज भी ह वही एकल स्थिति

नियति ने उछाल दिया
एक नया प्रश्न
मेरी स्वायत्तता के सामन
कृष्ण ! क्या मचमुच
तुम्हारी छाया ही वनी रहूँ म
कैसे यह सम्भव
कि अलगाव भी हो
और साझा भी निभे ?

तुम्हा वालो मेरे सम्प्रभु !
कैसी महभागिता होगी यह
यदि नहा छोडोगे तुम
धागा का उलझाव
नहीं सजोने दोगे

जागता है
यन्त्रणाओं का एक पूरा नर्क
कहो दु शासन कहीं दुर्योधन
कहीं अन्धा धृतराष्ट्र
आदमियत के खिलाफ खडे
हत्यारों की एक पूरी जमात

ठीक ही चौंके थे तुम
ठीक ही फूट पडा था तुम्हारा आक्रोश
कर्ण के इन्कार से
भीष्म की प्रतिज्ञा से

तुम्हारे होठों पर थी
तब भी मोहिनी मुस्कान
वक्त के सारे ज़हर को पीती हुई
स्थितियों के प्रत्येक तेवर को

जागता है
यन्त्रणाओं का एक पूरा नर्क
कहा दु शासन कहीं दुर्योधन
कहीं अन्धा धृतराष्ट्र
आदमियत के खिलाफ खडे
हत्यारो की एक पूरी जमात

ठीक ही चौंके थे तुम
ठीक ही फूट पडा था तुम्हारा आक्रोश
कर्ण के इन्कार से
भीष्म की प्रतिज्ञा से

तुम्हारे होठो पर थी
तब भी मोहिनी मुस्कान
वक्त के सारे ज़हर को पीती हुई
स्थितियों के प्रत्येक तेवर को

एक अलग स्थिति उस की
क्या उसे ही इतिहास कहे, कृष्ण !

एक निरन्तर सिलसिला
महाभारत का—आज भी
करना पड़ता
न्याय के पीड़ित पक्ष को
गाण्डीव का सन्धान
तमाम सम्मोहनों को जीतता हुआ
प्राकृतिक इतिहास के समानान्तर
एक मानवीय इतिहास का आरम्भ
भरोसा बढ़ता है
उभरता है दायित्व
एक नए अन्त तक के
अनुभवों से परे जगत के निर्माण का

माध्यम बनूँगी मैं
जैसे बने थे तुम
तुम्हारे धर्म से अलग
कहाँ है मेरा धर्म, देव !

श्रेयस हो तुम
सम्बद्ध हूँ मैं। पूर्ण हुए तुम
पूर्ण होंगे हम
चलते हुए उस पथ पर
जिस पर
न वरण करूँगी दैन्य
न वरण करूँगी पलायन
पहुँचना है मुझे भी
तुम्हारी ऊँचाइयों तक
चूमना है मुझे भी
तुम्हारे धर्म का शिखर

जानते हो लीलामय !
तारो के प्रभा-मण्डल से अलग
अपनी पीडा में
निरन्तर तलाशती रही हूँ मै
तुम्हारी छवि
पाती रही हूँ
अपने भीतर तुमको
तुम्हीं से मिली है
मुझको अपनी व्यप्ति
तुम्ही मे निर्मित होती रही हूँ म
अपनी साधारणता में तुष्ट
एक नारी हू म

तुमने समझना चाहा
प्रकृति के रहस्यो का निदान

जीवन के घात प्रतिघात में
छिन्न हो गई युद्ध-विजय की पुरानी पद्धति
सुनती हूँ
आघातों के संघातों की ध्वनि
प्राणों में एक नया आह्वान भरता है
तुम्हारा व्याकुल वंशी वादन

देखते हो कृष्ण !
एक बार फिर कैसे लाल हो रहा
समूचा कुरुक्षेत्र ?
कैसे समा लेना चाहती है
विशाल पृथ्वी
अपने गर्भ में
मरते नभगों को
समूचे आकाश में दिग दिगन्त में
गूँज रहा है शंखनाद

तृप्त होती हूँ म
तृप्त होती है वेदना
आज फिर
आदमी का पुनर्जन्म होता है
इतिहास में ●